International Journal of Multidisciplinary Horizon

ISSN: **3049-2017**
IJMH 2026; 3(2): 51-55
© 2026 IJMH
www.themultijournal.com
Received: 27-02-2026
Accepted: 11-03-2026
Publish : 12-03-2026

पातञ्जल योगसूत्र में नियम : आत्मबोध एवं आन्तरिक अनुशासन का दार्शनिक अनुशीलन

महाबीर शुक्ल, प्रोफे. नीरू नत्थानी

महाबीर शुक्ल
शोधार्थी, स्वस्थवृत्त एवं योग विभाग-
आयुर्वेद सङ्काय चि. वि. संस्थान,
का. हि. वि. विद्यालय, वाराणसी।

प्रोफे. नीरू नत्थानी
प्रोफेसर
शोध-निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष,
स्वस्थवृत्त एवं योग विभाग आयुर्वेद -
सङ्काय चि. वि. संस्थान,
का. हि. वि. विद्यालय, वाराणसी।

Correspondence:
महाबीर शुक्ल
शोधार्थी, स्वस्थवृत्त एवं योग विभाग-
आयुर्वेद सङ्काय चि. वि. संस्थान,
का. हि. वि. विद्यालय, वाराणसी।

सारांश (Abstract) :

पातञ्जल योगसूत्र में अष्टाङ्गयोग के अन्तर्गत 'नियम' साधक के आन्तरिक अनुशासन एवं आत्मबोध की आधारभूमि निर्मित करते हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम नैतिक-निर्देश, चित्तशुद्धि, अहंभाव-क्षय तथा आत्मसाक्षात्कार की क्रमिक साधना हैं। प्रस्तुत शोधपत्र में नियम का दार्शनिक विवेचन, आत्मबोध से उनका सम्बन्ध तथा साधक के आन्तरिक अनुशासन में उनकी भूमिका का विश्लेषण किया गया है। यह अध्ययन यह प्रतिपादित करता है कि नियम योगसाधना के वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आयामों को संतुलित करने का सशक्त साधन हैं।

कुञ्चिका-शब्द : पातञ्जल योगसूत्र, नियम, आत्मबोध, आन्तरिक अनुशासन, अष्टाङ्गयोग।

विषय-प्रवेश (Introduction) : भारतीय दर्शन परम्परा में योग को आत्मोन्नति का वैज्ञानिक एवं दार्शनिक मार्ग कहा गया है। पतञ्जलि योगसूत्र में योग का लक्ष्य चित्तवृत्तियों का निरोध है इस लक्ष्य की सिद्धि हेतु पतञ्जलि ने अष्टाङ्गयोग की संरचना प्रस्तुत की है जिसमें यम एवं नियम आधारस्तम्भ हैं, जहाँ यम सामाजिक एवं बाह्य आचरण की मर्यादा का निर्धारण करते हैं, वहीं नियम साधक के अन्तर्जगत् को परिष्कृत कर आत्मबोध की दिशा में अग्रसर करते हैं। इस प्रकार नियम योगदर्शन में आन्तरिक अनुशासन की सूक्ष्म साधना के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

नियम की दार्शनिक पृष्ठभूमिका (Philosophical background): शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।[१]

दार्शनिक दृष्टि से नियम आत्मसंयम का वह स्वरूप है जिसमें साधक स्वयं का नियमन करता है। यह नियमन बाह्य दण्ड या सामाजिक दबाव से नहीं, बल्कि आत्मविवेक एवं आत्मजागृति से उत्पन्न होता है। इस कारण नियमों का सम्बन्ध सीधे आत्मबोध से संबंधित कहा जा सकता है।

नियमाभ्यास एवं आत्मबोध का तात्त्विक सम्बन्ध (The fundamental relationship between practice of Niyama and Self-realization) : आत्मबोध का अर्थ स्वयं के वास्तविक स्वरूप का अनुभव। चित्त की मलिनता आत्मबोध में प्रमुख बाधा है। नियम चित्त की अशुद्धियों को क्षीण करते हैं-शौच से राग-द्वेष की निवृत्ति, सन्तोष से तृष्णा का क्षय,तप से आलस्य एवं प्रमाद का नाश, स्वाध्याय से आत्मचिन्तन का विकास एवं ईश्वरप्रणिधान से अहंकार का विसर्जन।

इस प्रकार नियम आत्मबोध की पूर्वपीठिका का निर्माण करते हैं।

नियम का विवेचन (Importance and Discussion) :

शौच (Shaucha) : शरीर पाञ्चभौतिक है। अन्न, जल, तेज, वायु और अवकाश के द्वारा इसका पोषण सम्भव है। नवद्वार और अनेकों रोमकूपों से युक्त शरीर से विकृत गन्ध, रस, मल, मूत्र, पसीना, तैजस रश्मियों का तथा वायु और स्पर्शका निःसरण होता रहता है।

बाहर से भी मलिन मिट्टी, जल, तेज, वायु और गन्ध, रस, रूप, स्पर्श का संश्लेष और ग्रहण होता रहता है। स्वच्छ और शुद्ध मिट्टी, भस्म, चन्दन, पुष्प, जल, सूर्य-चन्द्र-अग्नि-आदि तेज, वायु तथा अवकाश एवं गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द के सेवन से प्राप्त अशुद्धि का वारण सम्भव है। अगम्यागमन, अभक्ष्यभक्षण, अपेयपानादि का वर्जन नितान्त आवश्यक है। प्रायश्चित्त एवं पश्चात्तापादि के द्वारा पाप का प्रक्षालन संभव है। विविध मन्त्रों के पाठ, मणियों के स्पर्श, महोषधियों के सेवन से भी शुद्धि संभव है। इन वस्तुओं के सेवन से न केवल स्थूलशरीर का, अपितु सूक्ष्म और कारणशरीर का भी शोधन होता है। कारण यह है कि स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीर का, सूक्ष्मशरीर कारणशरीर का, कारणशरीर जीव का और जीव शिवस्वरूप परमात्मा का अभिव्यञ्जक है। अभिव्यंग्यकी अभिव्यक्ति अभिव्यंजक के अधीन हुआ करती है। अत एव स्थूलशरीर की शुद्धि का प्रभाव त्रिविध शरीरों पर और उसमें तादात्म्यापन्न जीव पर पड़ता है। सूक्ष्मशरीर सूक्ष्म पाञ्चभौतिक है। भोजन, जलादि के द्वारा उसका भी पोषण होता है। सेवित अन्न का स्थविष्ठ (स्थूल) भाग मल बनता है, मध्यम (सूक्ष्म) भाग मांस बनता है, अणिष्ठ (अति सूक्ष्म) भाग मनोरूप हो जाता है। सेवित जल का स्थूलभाग मूत्र बनता है, सूक्ष्मभाग रक्त बनता है और अति सूक्ष्मभाग प्राणरूप हो जाता है। सूर्यरश्मि आदि तेज और तैजस सुवर्णादि एवं शीघ्र तेजोरूप होने में समर्थ तैजसप्राय दुग्ध-घृतादि का स्थूलभाग अस्थि, सूक्ष्मभाग मज्जा और अति सूक्ष्मभाग वाक् बनता है। जल में वायु का और पृथ्वी में आकाश का अन्तर्भाव है। अत एव शुक्र का अन्तर्भाव लोहित (रक्त) में कर लिया जाता है।

सम्पूर्ण संसार शब्दात्मक और ज्ञानात्मक है, आकाश की परम्परा से शब्द और आत्मा की परम्परा से ज्ञान की निष्पत्ति मान्य है। प्रकृति (माया) ज्ञानाधिष्ठित शब्द की बीजावस्था मान्य है। भोजन, जल, तेज, वायु, अवकाश, गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द और ज्ञान ये मुख्य आहार हैं। इनकी शुद्धि से चित्तशुद्धि संभव है।

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'[२],
न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते'[३],
तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किंचित् क्वचित्कदाचिद् द्विज वस्तुजातम्'[४]

भवबन्ध की निवृत्ति में जिस ध्रुवा स्मृति की अनिवार्यता है, उसकी समुपलब्धि आहारशुद्धि से ही संभव है। **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।**[५]
इस तथ्य को उपनिषद्वाक्य पुष्ट करता करता है कि साधक जीवत्व के भ्रमबंध से विमुक्त स्वस्थिति में समाहित हो सकता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।[६],

महर्षि पतञ्जलि की सूत्रमयी संक्षिप्त शब्दावली में
पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।[७] – चित्तिशक्ति (प्रकृति) का अपनी मूल स्वरूप में प्रतिप्रसव या पुरुष का संयोगवियोग रूप मोक्ष (कैवल्य) कहा गया है।

द्विधा शौच : द्विविध शौच कहा गया है - बाह्य और आभ्यन्तर। सदा विशुद्ध आहार ग्रहण करना, शरीर को स्वच्छ और पवित्र रखना तथा आचमनादि के द्वारा भी शुद्धिसम्पादन करते रहना बाह्य शौच है। मानस सुकृत आभ्यन्तर शौच है। अन्य आहार का पर्यवसान शब्द में और शब्द का पर्यवसान ज्ञान में होता है। जीव के मुख्य आहार शब्द और ज्ञान ही हैं। ज्ञानस्वरूप आत्मा का अभिव्यञ्जक मन्त्रात्मक शब्दों का आलम्बन शुद्धि का चरम रहस्य है। संकल्प, निश्चय, स्मृति, गर्व और अज्ञान शब्दरहित होते ही ज्ञानमात्र अवशिष्ट रहते हैं। मृज्जलादि के द्वारा स्थूलशरीर का तथा फलाभिसन्धिविनिर्मुक्त शास्त्रसम्मत कर्मोपासना और प्राणायाम के द्वारा सूक्ष्मशरीर का तथा आत्मज्ञान के द्वारा कारणशरीर का शोधन सम्भव है।

ईश्वर में प्रेम, ईश्वरोपासकों में मैत्री, साधनहीन प्राणियों पर कृपा, साधनसम्पन्न व्यक्तियों के अवलोकन से मुदिता और ईश्वर, ईश्वरोपासकों से द्वेष करने वालों की अर्थात् दुष्टों की उपेक्षा करने से चित्त शुद्ध और समाहित बना रहता है। सर्वत्र सर्वरूपों में परमात्मा के अवलोकन से सदा प्रसन्न रहना सिद्धों की शुद्धि का रहस्य हो सकता है।

सदाहारविशुद्धिश्च कायप्रक्षालनं तु यत् ।
बाह्यशौचं भवेदेतत्तथैवाचमनादिना ।।
बाह्यमाभ्यन्तरं चेति द्विविधं शौचमिष्यते ।
मानसं सुकृतं यत् तच्छौचमाभ्यन्तरं स्मृतम् ।।[८]

शौचं नाम द्विविधं – बाह्यमान्तरं चेति । तत्र मृज्जलाभ्यां वाह्यम् । मनःशुद्धिरान्तरम् । तदध्यात्मविद्यया लभ्यम् ।[९]

आभ्यन्तर शौच के अमोघ प्रभाव से सत्त्व (चित्त)-शुद्धि, सौमनस्य, एकाग्रता, इन्द्रियजय और आत्मदर्शनयोग्यता की समुपलब्धि सम्भव है। **(शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।**[१०] **सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यताच।**[११]**)** सात्त्विक आहार-विहार के सेवन से इन्द्रियों की आलस्य से अभिभूतता दूर होती है। विषयों में दुःखदोषानुदर्शन से इन्द्रियों की कर्म और भोगमें प्रवणता दूर होती है। इन्द्रियों की कर्म और भोग के प्रति प्रवणता और आलस्य से अभिभूतता, चित्तमें दुर्वासना की प्रबलता, मन में अमुदिता, अहं में आवरण की घनता तथा बुद्धि में आत्मविमुखता नामक दोष सन्निहित हैं। इष्टदेवोपासना से चित्तगत वासना की निवृत्ति होती है। परोत्कर्षसहिष्णुता से मनमें मुदिता उदित होती है । मनोराज्य के शमन से बुद्धि की चञ्चलता का शमन और एकाग्रता का संपादन होता है। आत्मा की नित्य शुद्धता-बुद्धता और मुक्तता में आस्था से अहं में असत्त्वापादक आवरण की विद्यमानतारूप आवरण के सघनता की निवृत्ति अर्थात् आत्मदर्शन की योग्यता का सम्पादन होता है। समाधिजन्य प्रज्ञा से अथवा सत्संगसुलभ प्रज्ञा से आत्मा की नित्यशुद्ध-बुद्ध-मुक्तता का अधिगम हो सकता है। आत्माधिगम से आत्मविमुखता का निवारण संभव है। मल-विक्षेप का निवारण, असत्त्वापादक आवरण का विध्वंसन और अभानापादक आवरण के विध्वंसक आत्मदर्शन की जिज्ञासा का समुत्पादन शौच का फल है।

सन्तोष (Santosha) : अनात्मवस्तुओं से विविक्त आत्मोपलब्धि के लिए तृष्णाक्षय परमावश्यक है। **सन्तोषो नाम यदृच्छालाभसन्तुष्टिः'**[१२]

नित्य यदृच्छालाभ से जो प्राणियों में प्रीति समुत्पन्न होती है, उन्हें परिज्ञानैकतत्पर महानुभावों ने सन्तोष कहा है –

यदृच्छालाभतो नित्यं प्रीतिर्या जायते नृणाम् ।
तत्संतोषं विदुर्प्राज्ञाःपरिज्ञानैकतत्पराः ।।[१३]

विरक्ति के बल पर ब्रह्मादिलोकपर्यन्त जो वैभव की समुपलब्धि (अत्युत्तम सुख की अभिव्यक्ति) होती है, सर्वत्र अनासक्तिरूप परम सन्तोष है –

ब्रह्मादिलोकपर्यन्ताद्विरक्त्या यल्लभेत्प्रियम् ।
सर्वत्र विगतस्नेहः सन्तोषं परमं विदुः ।।[14]

अभीष्ट वस्तु की समुपलब्धि से कामनाशमन के अनन्तर शुद्ध समाहित चित्त पर स्फुरित आत्मसुख ही सुख का रहस्य है, ऐसी स्थिति में यथालाभ सन्तोष ही उपयुक्त है, न कि सुखद समझकर बाह्य वस्तुओं का सञ्चय ।

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ।। [१५]

सन्तोष से अनुत्तम सुख अर्थात् उत्तमाति उत्तम सुखोपलब्धि की अनुशंसा की है। बह्यवस्तु के सञ्चय से सुखस्वरूप आत्मा की उपेक्षा हो जाती है। समस्त दुःखों का मूल आत्मोपेक्षा ही है। बाह्य पद-प्रतिष्ठावैभवादि से स्वयं को गौरवान्वित न समझकर यथालाभसन्तुष्ट रहकर आत्मानुशीलन के बल पर अनात्मसंसर्गविमुक्त रहना ही परम सुख का रहस्य है।

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।[१६] अभावग्रस्त होकर अभावानुभूति से संत्रस्त चेतन जीव है। जीव को हर्ष-विषाद, ज्ञान अज्ञान और अहमितिरूप जीवधर्म से विमुक्तकर एकरस हर्ष, ज्ञान और अहमिति से जीवनकाल में सम्पन्नकर जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनन्द प्रदान करना सन्तोष का फल है।

तृष्णाक्षय के लिए सन्तोष परम आवश्यक है। दुःखों का मूल आत्मोपेक्षा ही है। बाह्य पद-प्रतिष्ठा वैभवादि से स्वयं को गौरवान्वित न समझकर यथालाभसन्तुष्ट रहकर आत्मानुशीलन के बल पर अनात्मसंसर्गविमुक्त रहना ही परम सुख का रहस्य है।

तीर्थानां गुरवस्तीर्थं चोक्षाणां हृदयं शुचि ।
दर्शनानां परं ज्ञानं सन्तोषः परमं सुखम् ।।[१७]

तीर्थों में सर्वोत्तम तीर्थ गुरुजन हैं। पवित्र वस्तुओं में हृदय अधिक पवित्र है। दर्शनों (ज्ञान) में परमार्थज्ञान सर्वोत्कृष्ट है। सन्तोष परम सुख है।

अभावग्रस्त होकर अभावानुभूति से संत्रस्त चेतन जीव है। जीवको हर्ष-विषाद, ज्ञान अज्ञान और अहमितिरूप जीवधर्म से विमुक्त कर एकरस हर्ष, ज्ञान और अहमिति से जीवनकाल में सम्पन्न कर जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनन्द प्रदान करना सन्तोष का फल है।

तप (Tapa) : अविद्याकामकर्मकालुष्य के क्षालन और दहन में तप का सर्वोपरि महत्त्व है। जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-संहति तपोबल से ही सम्भव है। अनात्मवस्तुओं से विविक्त आत्मोपलब्धि और अभ्युदय अथवा निःश्रेयस के उपयुक्त अन्तःशुद्धि तपोबल से ही सम्भव है। पतंजलि के योगसूत्र (**कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः**[१८]) के अनुसार तप से काय एवं इन्द्रियों की सिद्धि होती है।

'तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते'[१९] **'यस्य ज्ञानमयं तपः'**[२०] **'अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते'**[२१] **'तप इति तपो नित्यः पौरुशिष्टिः'**[२२], **'यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता'**[२३], **'स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा'**[२४], **'तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये'** [२५], **'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्'**[२६], **'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्'**[२७] **'अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसंभवन्ति**[२८] **'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति'**[२९] आदि श्रुतियों के अनुशीलन से यह तथ्य सिद्ध है कि परमात्मा जहाँ आलोचनात्मक तप से विश्व का सर्जनादि करते हैं; वहाँ जीव सत्य, श्रद्धा, विद्या, ब्रह्मचर्य, यज्ञ, दान, तप और सम्यग्ज्ञान से अभ्युदयलाभ करता है।

वेदविधिसम्मत कृच्छ्र-चान्द्रायणादिकों के द्वारा अभ्युदय-निःश्रेयस के उपयुक्त शरीरशोषण का नाम तप है -

वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ।
शरीरशोषणं यत्तत्तप इच्युच्यते बुधैः ।।[३०]

तपो नाम विध्युक्तकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः शरीरशोषणम्'[३१]

द्वैतबीज अज्ञान को दग्ध कर स्वयं को कृतार्थ करना ही जीवकर्तृक तप का उद्देश्य और स्वरूप होना आवश्यक है। **'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व'**[३२] **'तपसा योऽनुपश्यति'**[३३] आदि श्रुतियों के अनुशीलन से यह तथ्य सिद्ध है।

भवतारक-रागविदारक, भक्तिमुक्तिप्रदायक भगवदनुग्रह की अजस्र अभिव्यक्ति के लिए तप परमावश्यक है।

तप से अशुद्धि का क्षय होने से कायेन्द्रियसिद्धिरूप फल का प्रतिपादन किया है-**'कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।**[३४]

जिस प्रकार अरहर की दाल को परिस्कृत कर लेने पर नेत्रेन्द्रिय से अगम्य मल भी दाल को स्निग्धकर गर्म जल में डालकर तपाते रहने पर झागरूप में ऊपर आ जाता है; जिसे दर्वी से हटा दिया जाता है; उसी प्रकार शौच से कायेन्द्रिय को अंशतः सामान्यतः परिस्कृत कर लेने पर भी अदृश्य मल स्निग्ध और उष्ण (भक्ति और विरक्तिरूप) तप के द्वारा कायेन्द्रिय से वियुक्त हो जाता है। तब देहेन्द्रिय की शुद्धि हो जाती है। साधक देहेन्द्रिय और मन के वश में न होकर इनको अपने वश में कर लेता है। जिस प्रकार कर्णगोलक में सन्निहित मल को निकाल देने पर श्रवणशक्ति बढ़ जाती है; उसी प्रकार देहोपादानक धातुगत और अतीन्द्रियकरणरूप इन्द्रियगत मल तप से विनिःसृत हो जाने पर देहेन्द्रिय की शुद्धि हो जाती है। देहेन्द्रियशुद्धि से साधक अणिमादिसिद्धि और समाधिसिद्धि का अधिकारी हो जाता है।

अमृतत्व के साधनरूप धर्मस्कन्धों में अध्ययनरूप स्वाध्याय प्रथम सोपान है-**'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति'**।[३४]

तैत्तिरीयोपनिषद् में स्वाध्याय और प्रवचन में अप्रमत्तता का सन्देश दिया है- **'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्'**।[३५] मनुस्मृति ने ब्रह्मसाक्षात्कारोपयुक्त ब्राह्मीतनु की समुपलब्धि के लिए स्वाध्याय का प्रथम वर्णन किया है-

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।।[३६] -व्यासादि महर्षियों ने स्वाध्याय को ऋषियज्ञ और ब्रह्मयज्ञ कहा है-

स्वाध्यायेनार्चयेदर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि ।
पितृश्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ।।[३७]

स्वाध्याय से ऋषियों की, होम से देवताओं की, श्राद्धों से पितरों की, अन्न से मनुष्यों की और बलिकर्म से प्राणियों की पूजा-तृप्ति (सन्तुष्टि) करनी चाहिये।

स्वाध्याय आत्मनिरीक्षण का सशक्त माध्यम है।

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।।[३८]

'जीव' सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा है। 'आत्मा' को ही 'स्व' कहते हैं। अनात्मवस्तुओं से विविक्त गुणमय भावों से अतीत स्वसंज्ञक आत्मा का अनुशीलन स्वाध्याय है। उपनिषदों में स्वाध्याय के लिए 'सिद्धान्तश्रवण', **'वेदान्तश्रवण' शब्दों का प्रयोग योगाङ्ग-प्रतिपादनसन्दर्भ में किया गया है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'**[३९] **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'**[४०] **'वेदैरनेकैरहमेव वेद्यः'**[४१] इस विधि के अनुसार वेद की स्वशाखा का अध्ययन अथवा सम्पूर्ण वेद का अध्ययन स्वाध्याय है। **"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'**[४२] आदि श्रुति-स्मृतियों के अनुशीलन से यह तथ्य सिद्ध है कि उपक्रमोपसंहारादि षड्विधलिङ्गों के द्वारा समस्त वेदों का तात्पर्य्य जन्म-मृत्यु, पुण्य-पापादिद्वन्द्वविनिर्मुक्त अद्वितीय ब्रह्मात्मतत्त्व में सन्निहित है। वेद-वेदान्त स्वप्रतिपादक होनेसे स्वाध्याय हैं ।

स्वाध्याय का फल इष्टदेवता का साक्षात्कार माना है –

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।[४३]

ईश्वरप्रणिधान (Ishvara Pranidhana) :

ईश्वरप्रणिधान जगद्रचना की तथा जीवोद्धार की अन्यथा अनुपपत्ति विचारकों को ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए बाध्य करती है। परम्पराप्राप्त आस्था और अनुमानादि के बल पर जहाँ ईश्वरसिद्धि संभव है; वहाँ अपौरुषेय वेदवचनों से ईश्वरसिद्धि सम्भव है। वेदों के अविरुद्ध और अनुकूल अनुमानादि का आलम्बन भी ईश्वरसिद्धि में उपयुक्त है।

भावुकों की कोरी भावुकता से ईश्वर को सिद्ध मानना सार्वभौम सनातन सिद्धान्त नहीं है। विधुरपरिभावित कान्तासाक्षात्कारतुल्य केवल भावनासिद्ध ईश्वरकी प्रामाणिकता असिद्ध है। कोरी तर्कणाशक्ति के बलपर भी ईश्वरसिद्धि अनुपयुक्त है। अनुमानसिद्ध अग्न्यादि की अर्थक्रियाकारिता अनुपपन्न है। अत एव निगमागमसिद्ध ईश्वर की आगमिक युक्तियों के द्वारा सिद्धि और भावनायुक्त हृदय से उपासना ही उपयुक्त है।

जीवोद्धारक और जगदुत्पादकादिरूप में ईश्वरसिद्धि भी अपूर्ण ही है। जीवोद्धारक और जगदुत्पादकादि ईश्वर की जगदुपादानता और आत्मरूपता माने विना उसकी वस्तुकृत परिच्छिन्नता का वारण असंभव है, अत एव ईश्वर को पूर्ण (अनन्त) सिद्ध करने के लिए सनातन सर्वेश्वर की सर्वोपादानता और आत्मरूपता अनिवार्य है। सनातन सर्वेश्वरकी शरणागति और अभ्यर्चना ईश्वरप्रणिधान है। योगिराज याज्ञवल्क्य ने श्रद्धाभक्ति सहित साकार सर्वेश्वर की समर्चा को ईश्वरप्रणिधान कहा है। रागादिकालुष्यविनिर्मुक्त अत एव प्रसन्न चित्त से; उद्वेग-असत्य-अप्रिय-अहितकरवचनविनिर्मुक्त वाक् से और हिंसादिविरहित शरीर से गुरुमूर्ति विष्णु, शिवादिरूप ईश्वर की यथाशक्ति आराधना ईश्वरप्रणिधान है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।[४४]

ईश्वरालम्बनपूर्वक ईश्वरोपासना से सुगमतापूर्वक जीवन में यम-नियमादि योगाङ्गों की प्रतिष्ठा हो जाती है। ईश्वरानुग्रह से प्रतिबन्धविनिर्मुक्त मन में समाधिसिद्धि सुगम हो जाती है।

दार्शनिक रूप से यह अहंकार-त्याग एवं आत्मसमर्पण की चरम अवस्था है, जहाँ आत्मा और परमात्मा के भेद का भ्रमक्षय होता है।

नियम एवं आन्तरिक अनुशासन (Niyama and internal discipline) : स्वयं पर स्वयं का शासन ही आन्तरिक अनुशासन का निहितार्थ है। नियम साधक को मानसिक स्थिरता, नैतिक दृढ़ता, भावनात्मक संतुलन, आध्यात्मिक विनय से समलंकृत करते हैं। इस प्रकार नियम आत्मसंयम की व्यवहारिक प्रयोगशाला रूप सुरभित अन्तः उद्यान है।

वर्तमानसापेक्ष पातंजल नियम की दार्शनिक प्रासंगिकता (Philosophical relevance of Patanjali's Niyama relative to the present) : वर्तमान समय में तनाव, अवसाद एवं नैतिक विचलन की समस्याएँ जैसी मानस विकृतियों की प्रायः सर्वत्र दृष्टिगोचरता में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही हैं। मानसिक स्वास्थ्य, जीवनशैली-संतुलन एवं आत्मबोध की पुनर्स्थापना में नियम की महती भूमिका व तदर्थ अत्यन्त प्रासंगिक सिद्ध हो सकते हैं। यह योगदर्शन की सार्वकालिक उपयोगिता को सिद्ध करता है।

निष्कर्ष (Conclusion) : नियमों में शौच प्रथम होने से मुख्य है। असंतोषी, अतपस्वी, अस्वाध्यायी और अनीश्वरवादी के जीवन में शौच की प्रतिष्ठा नहीं होती। अभिप्राय यह है कि असन्तोष, अस्तेय, अस्वाध्याय और ईश्वराप्रणिधानप्रधान व्यक्ति के जीवन में शौचाचार नहीं होता ।

ईश्वरविमुख या अनीश्वरवादी के जीवन में स्वाध्याय, तप, सन्तोष और शौचाचार नहीं होता। अशुचि असन्तोषी होता है। असन्तोषी अतपस्वी होता है। अतपस्वी अस्वाध्यायी होता है। अस्वाध्यायी ईश्वरविमुख या अनीश्वरवादी होता है।

शौच से सन्तोष की प्रतिष्ठा होती है। सन्तोष से तप की प्रतिष्ठा होती है। तप से स्वाध्याय की प्रतिष्ठा होती है। स्वाध्याय से ईश्वर में आस्था होती है।

ईश्वर में आस्था से ईश्वरप्रोक्त या ईश्वर के निःश्वासभूत वेदों में आस्था होती है। वेदों में आस्था से वेदोक्त तप में आस्था होती है। वेदोक्त तप से जीवन में सन्तोष प्रतिष्ठित होता है। सन्तोष से जीवन में शुचिता प्रतिष्ठित होती है।

अस्तु अपरिग्रह और ईश्वरप्रणिधान सर्वसिद्धियों का मूल है।

पातञ्जल योगसूत्र का नियम आत्मबोध एवं आन्तरिक अनुशासन का आधारशिला है। यह साधक को बाह्य नियंत्रण से आन्तरिक स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर करता है। दार्शनिक दृष्टि से नियम चित्तशुद्धि, अहंकार-क्षय एवं आत्मसाक्षात्कार की अनिवार्य साधना है। अस्तु योगसूत्र में नियम का स्थान नैतिक, आध्यात्मिक विकास की अनिवार्य एवं मूल कड़ी के रूप में प्रतिष्ठित है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

पातञ्जल योगसूत्र (व्यासभाष्य सहित)
योगसूत्र – स्वामी हरिहरानन्द आरण्यक
पातञ्जल योगदर्शन – डॉ. सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव
भगवद्गीता - शाङ्कर भाष्य
उपनिषद् (कठ, मुण्डक, श्रीजाबालदर्षनोपनिषद, कैवल्योपनिषद, बृहदारण्यक, प्रश्नोपनिषद, छान्दोग्योपनिषद् शाण्डिल्योपनिषद्)
आरण्यक – तैत्तिर
महाभारत
मनुस्मृति
पुराण – विष्णु पुराण, भागवत पुराण
वाक्पदीयम्

संदर्भ– सूची :

१. पा.यो.सू. २/३२
२. छान्दो. ६.१.४
३. वा.पदी. १/१२३
४. वि.पु. २.१२.४३
५. छान्दो. ७/२६/२
६. मुण्ड.उ. २/२/८, श्रीमद्भा.पु. ११/२०/३०
७. पा.यो.सू. ४/३४
८. महा.अनु.१४५ दा०
९. शाण्डि.उ. १/२
१०. पा.यो.सू.२/४०
११. वही २/४१
१२. शाण्डि.१/२
१३. श्रीजा.द.उ.२/५
१४. वही २/६
१५. मनुस्मृति ४/१२
१६. पा.यो.सू.२/४२
१७. महा० अनुशा० १६२/४७
१८. पा.यो.सू.२/४३
१९. मुण्ड.उ. १/१/८
२०. वही १/१/९
२१. प्रश्न.उ. १/१०
२२. तैत्ति.उ. १/९
२३. बृह.उ. १/५/२
२४. तैत्ति.उ. ३/१
२५. मुण्ड.उ. १/२/११
२६. मुण्ड.उ. २/१/१०
२७. वही ३/१/५
२८. बृह.उ. ६/२/१६
२९. वही ४/४/२२
३०. श्रीजा.द.उ.२/३
३१. शाण्डि.उ. १/२
३२. तैत्तिर. ३/२-३
३३. श्वेताश्व.१/१५
३४. छा.उ. २/२३/१
३५. तैत्ति.उ. १/११/१
३६. मनु. २/२८
३७. वही. ३/८१
३८. श्रीवि.पु. ६/५/६४
३९. तैत्ति.आर. २/१५
४०. कठ.उ. १/२/१५
४१. कैव.उ. १/२२
४२. भगवद्गीता १५/१५
४३. पा.यो.सू. २/४४
४४. वही. २.४५